जनसत्ता

हमले और सवाल

लवामा आतंकी हमले के बाद इस जिले में सुरक्षा बलों और आतंकियों 🕇 की मुठभेड़ों का अभी भी जारी रहना इस बात का प्रमाण है कि यहां आतंकियों की जड़ें खत्म नहीं हुई हैं और वे पूरी ताकत के साथ सेना से भिड़ रहे हैं। इसी जिले में सोमवार को एक और मुठभेड़ हुई, जिसमें सेना के एक मेजर सहित चार जवान शहीद हो गए। इससे पहले शनिवार को भी बारूदी सुरंग हटाते वक्त एक मेजर की जान चली गई थी। आतंकियों से लोहा लेने में सेना और सुरक्षाबलों के जवानों के हताहत होने की संख्या जिस तेजी से बढ़ रही है, वह चिंताजनक है। ऐसा लग रहा है कि आतंकी ज्यादा ताकतवर होकर सामने आ रहे हैं और सुरक्षा बलों के लिए कड़ी चुनौती बन रहे हैं। जनवरी के आखिरी हफ्ते में खबर आई थी कि हिज्बुल का गढ़ बारामुला अब पूरी तरह आतंकियों से मुक्त हो चुका है। तब उम्मीद जगी थी कि दक्षिण कश्मीर के पुलवामा, शोपियां, कुलगाम और अनंतनाग जैसे जिलों से भी आतंकियों का जल्द सफाया होगा। लेकिन हकीकत कुछ और ही बयां कर रही है। सरकार दावा करती रही है कि आतंकियों के हौसले पस्त हो चुके हैं और वे हताशा में हमलों को अंजाम दे रहे हैं। लेकिन यह आसानी से गले नहीं उतरता। अगर आतंकियों के हौसले टूट चुके होते तो पुलवामा जैसा हमला नहीं होता। जाहिर है, आतंकियों का नेटवर्क और उनकी ताकत हमारे अनुमान से कहीं ज्यादा है, जिसका खिमयाजा हमें जवानों की जान के रूप में चुकाना पड़ रहा है।

जम्म्-कश्मीर में पिछले पांच साल में शहीद होने वाले जवानों की संख्या का ग्राफ जिस तेजी से बढ़ा है, वह कई गंभीर सवाल खड़े करता है। आतंकियों से लोहा लेने में हमारे जवानों को कम से कम नुकसान पहुंचे, इस प्रयास में हमारे रणनीतिकार विफल साबित हो रहे हैं। ऐसे ही सवाल खुफिया तंत्र की नाकामी को लेकर भी उठ रहे हैं। पांच फरवरी को गृह राज्यमंत्री ने लोकसभा में जो आंकड़े पेश किए, वे चौंकाने वाले हैं। जम्मू-कश्मीर में 2014 से 2018 के बीच शहीद जवानों की संख्या चौरानवे फीसद तक बढ़ गई और आतंकी हमलों में तो एक सौ सतहत्तर फीसद का इजाफा हुआ। 2014 में दो सौ बाईस आतंकी घटनाएं और हमले दर्ज हुए थे और सैंतालीस जवान शहीद हुए थे। 2018 में आतंकी हमलों की संख्या छह सौ चौदह और शहीद जवानों की इक्यानवे तक पहुंच गई। साफ है कि पिछले चार साल में जम्मू-कश्मीर में आतंकवाद तेजी से बढ़ा है और प्रदेश व केंद्र सरकार की नीतियां समस्या से निपट पाने में बेअसर साबित हुई हैं।

राष्ट्रीय सुरक्षा गार्ड की एक रिपोर्ट में भी साफ कहा गया है कि जम्मू-कश्मीर में पिछले पांच साल में देशी बम और अन्य विस्फोटों की घटनाएं बढ़ी हैं। पिछले साल तो इनमें सत्तावन फीसद का इजाफा देखा गया और आतंकवादियों ने देशी बमों का अधिक इस्तेमाल किया। दक्षिण कश्मीर के ग्रामीण इलाकों में आतंकी संगठनों का नेटवर्क अब भी मजबूत लगता है और वहीं देशी बम बनाए जाने और हमलों की साजिश रचे जाने की खबरें आती रही हैं। जवान आतंकियों के सामने तभी मात खाते हैं जब उनके पास पुख्ता सूचनाएं और खुफिया जानकारियां नहीं होती हैं। ऐसे में सुरक्षाबलों को आतंकियों की योजना के बारे में पता नहीं चल पाता और वे हमलों का शिकार हो जाते हैं। जवानों के हताहत होने की घटनाओं से सुरक्षा बलों का मनोबल भी टूटता है और व्यवस्था के प्रति आक्रोश भी बढ़ता है। खुफिया तंत्र अगर मजबूत हो, कारगर रणनीति हो तो जवानों की जान काफी हद तक बचाई जा सकती है।

हार के मुजफ्फरपुर में एक बालिका गृह में चौंतीस बच्चियों के यौन शोषण और उत्पीड़न का मामला उजागर होने के बाद एक अहम सवाल यह उठा था कि राज्य सरकार आखिर किन वजहों से वहां होने वाली गतिविधियों को नजरअंदाज करती रही। जिस आश्रय गृह में बेहद अमानवीय आपराधिक गतिविधियां चल रही थीं, उसके संचालन के लिए सरकार बाकायदा भारी धनराशि दे रही थी। सवाल है कि अगर सरकार किसी संस्थान को अनुदान देती है तो क्या वह उसके इस्तेमाल पर निगरानी नहीं रखती है ? विडंबना है कि यह सब कुछ तब भी चलता रहा जब वहां की गतिविधियों को लेकर आशंका जाहिर की जाने लगी थी। साफ है कि यह सब बिना उच्चस्तरीय मिलीभगत के संभव नहीं था। इसी मामले में गिरफ्तार एक आरोपी अश्विनी कुमार ने विशेष पॉक्सो अदालत से आश्रय गृह के संचालन और पैसे देने को लेकर मुख्यमंत्री, समाज कल्याण विभाग के प्रधान सचिव और मुजफ्फरपुर के तत्कालीन जिला मजिस्ट्रेट की भूमिका की जांच की मांग की थी। इसे अदालत ने सीबीआइ के पास अग्रसारित कर दिया है।

यह किसी से छिपा नहीं है कि मुजफ्फरपुर में संदिग्ध गतिविधियों को लेकर आरोप सामने आने लगे थे, तभी से सरकार की ओर से इसकी अनदेखी को लेकर सवाल उठे थे। यही नहीं, शक के मजबूत आधार होने के बावजूद सरकार ने उस आश्रय गृह के लिए भारी धनराशि जारी करने में पूरी उदारता बरती। जबिक ऐसे आश्रय गृहों की नियमित जांच और गड़बड़ी पाए जाने पर उसके संचालकों के खिलाफ सख्ती करना सरकार की जिम्मेदारी होनी चाहिए थी। मगर सरकार को यह जरूरी नहीं लगा। दबाव बढ़ने के बाद टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज की जांच के बाद जो तथ्य सामने आए, वे किसी भी संवेदनशील व्यक्ति को दहला देने वाले थे। बालिका गृह में रखी गई बच्चियों को प्रताड़ना और यौन हिंसा के विकृत रूप से गुजरना पड़ा था। उसके मुख्य आरोपियों में स्थानीय स्तर पर एक कदावर व्यक्ति ब्रजेश ठाकुर से लेकर बिहार सरकार में एक मंत्री तक का नाम शामिल था। इसके अलावा, उसमें कई ऊंचे कद वालों के शामिल होने के आरोप थे। सवाल है कि आखिर वे कौन-सी वजहें रहीं कि मुजफ्फरपुर के बालिका आश्रय गृह में रखी गई बिच्चयों के साथ भयावह और अमानवीय अपराध होते रहे और जब मामला सामने आया तब भी उस पर पर्दा डालने की अधिकतम कोशिशें की गईं?

अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि पिछले साल नवंबर में सुप्रीम कोर्ट ने एफआइआर में काफी देरी और उसमें कमजोर धाराओं के तहत मुकदमा दर्ज करने के लिए राज्य सरकार को कड़ी फटकार लगाई और उसके रवैये को बेहद अमानवीय और शर्मनाक बताया था। हालत यह है कि मामले की जांच सीबीआइ के पास जाने के बाद उसके संबंधित अधिकारी का स्थानांतरण करने पर भी हाल में सुप्रीम कोर्ट के कठघरे में सीबीआइ प्रमुख को सजा से गुजरना पड़ा। समूचे मसले की जांच और आरोपियों को सजा दिलाने के प्रति सरकार के इस रवैये का क्या कारण है ? मुजफ्फरपुर के उस बालिका गृह में किसी तरह पहुंच पाने वाली बच्चियां बेहद कमजोर सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि से हैं और साफ है कि अपने लिए कोई ठौर नहीं होने के बाद ही उन्होंने वहां शरण ली होगी। लेकिन वहां भी उन्हें यौन हिंसा और अमानवीय अत्याचार से गुजरना पड़ा। इस मसले पर सुप्रीम कोर्ट ने वाजिब सवाल उठाया था कि सरकार की नजर में क्या वे देश के बच्चे नहीं हैं! अगर बिहार सरकार खुद को इस मामले में पाक-साफ और ईमानदार मानती है तो उसे इसमें संलिप्त सभी आरोपियों को सख्त सजा दिलाने के लिए अपनी ओर से संजीदगी दिखानी चाहिए।

कल्पमधा

जिसने स्वयं गिर कर अपने को कीड़े के समान बना लिया हो उसे यह अधिकार नहीं कि कुचले जाने पर मुख से शिकायत का बोल भी निकाले।

-कांट

उच्च अदालतें और हिंदी

प्रमोद भार्गव

देश की सभी निचली अदालतों में संपूर्ण कामकाज हिंदी व अन्य भारतीय भाषाओं में होता है, किंतु उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय में यही काम केवल अंग्रेजी में होता है। यहां तक कि जो न्यायाधीश हिंदी व अन्य भारतीय भाषाएं जानते हैं, वे भी अपीलीय मामलों की सुनवाई में दस्तावेजों का अंग्रेजी अनुवाद कराते हैं।

आप्तिन के लिए न्याय की भाषा कौन-सी हो, इसका सबक भारत और भारतीय न्यायालयों को अबु धाबी से लेने की जरूरत है। संयुक्त अरब अमीरात की राजधानी अबू धाबी ने ऐतिहासिक फैसला लेते हुए अरबी और अंग्रेजी के बाद हिंदी को अपनी अदालतों में तीसरी आधिकारिक भाषा के रूप में शामिल कर लिया है। अरबी और अंग्रेजी नहीं जानने वालों तक न्याय की पहुंच बनाने की दृष्टि से यह फैसला काफी अहम है। अब यहां की अदालतों में वादी एवं प्रतिवादी अपने दावे और बयान हिंदी में दे सकेंगे। इसका उद्देश्य हिंदी भाषी लोगों को मुकदमे की प्रक्रिया में उनके अधिकारों और कर्तव्यों के बारे में पारदर्शी ढंग से सहायता करना है। इसके उलट हमारे उच्च न्यायालयों, उच्चतम न्यायालय और शीर्ष नौकरशाही का आलम यह है कि सब के सब अंग्रेजी न्याय व्यवस्था को कायम रखते हुए सत्तर साल से लकीर के फकीर बने हुए हैं। हिंदी समेत अन्य भारतीय भाषाओं में न्यायिक प्रक्रिया की सभी अपीलें व दलीलें अदालत की दहलीज पर

पहुंचते ही ठिठक जाती हैं। भाषाई परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रिपता महात्मा गांधी की भावना और जनतंत्र की कसौटी भी यही मानती है कि सभी तरह के राज-काज आम लोगों की भाषा में क्रियान्वित हों। किंत् हमारे यहां इस पुनीत भावना जितना निरादर हुआ, उतना अन्य किसी क्षेत्र में शायद ही हुआ हो!

इस्लाम धर्मावलंबी इस देश की आधिकारिक रूप से कुल आबादी करीब एक करोड़ है। इसमें भी दो तिहाई विदेशी नागरिक हैं। यहां भारतीय नागरिकों की आबादी लगभग छब्बीस लाख है। इनमें से अधिकांश हिंदी और तमिल भाषी हैं। तमिल भी हिंदी जानते हैं। भारत को विदेशी मुद्रा उपलब्ध कराने में भी ये कामगार दूसरे स्थान पर हैं। यूएई के औद्योगिक-प्रौद्योगिक विकास में भी इन भारतीयों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। ऐसी स्थिति में इन्हें श्रम न्यायालयों में कोई मामला दाखिल करते समय अंग्रेजी व अरबी नहीं जानने के कारण दस्तावेजों की असलियत समझने में संकट का सामना करना पड़ता था। क्योंकि अंग्रेजी या अरबी में ही अभिलेख तैयार करने की 🖝

अनिवार्य बाध्यता थी, लिहाजा वादी व प्रतिवादी दोनों ही परेशानी का अनुभव करते थे। वैसे भी इस देश में जो भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश और श्रीलंका के लोग हैं, वे पढे-लिखे कम हैं और ज्यादातर भवन व सड़क निर्माण कार्यों से जुड़े हैं। महिलाएं घरेलू कार्य करती हैं। ये अनुबंधित श्रमिक की श्रेणी में आते हैं। इस नाते अबू धाबी की सरकार ने न्याय-प्रक्रिया में हिंदी को आधिकारिक भाषा का दर्जा देकर इन लोगों के प्रति संवेदनशीलता का परिचय दिया है। न्याय की भाषा हिंदी बन जाने से अब भारतीयों को

कानूनी प्रक्रिया, उनके अधिकार और सेवा संबंधी शर्तें जानने-समझने में दस्तावेजों की अंग्रेजी व अरबी में अनुवाद कराने की बाध्यता खत्म हो जाएगी। इस उपाय से अमीरात को विश्व का सबसे बड़ा पर्यटन-स्थल बनने में भी मदद मिलेगी। वे न्याय प्रक्रिया से गुजरते हुए पारदर्शिता का अनुभव करेंगे।

इस तरह का फैसला भारत में लिया गया होता तो हिंदी सहित भारतीय भाषाओं को थोपने का जुमला गढ़ कर अंग्रेजी वर्चस्ववादी अभिजात वर्ग ने हल्ला मचा दिया होता। जबिक अंग्रेजी की कथित रूप से बना दी गई अनिवार्यता के चलते देशी प्रतिभाएं पूर्ण रूप से खिलने से पहले ही कुंठित हो रही हैं। शिक्षा में आरक्षण का लाभ लेकर वंचित समुदायों के जो विद्यार्थी आइआइटी जैसे शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश पा रहे हैं. उन्हें अंग्रेजी माहौल के चलते आत्मघाती

कदम उठाने तक को विवश होना पड रहा है। साफ है, यह प्रभुत्व व्यापक रूप लेकर हिंदी व भाषाई माध्यमों से पढ़ कर आने वाले युवाओं में न केवल घातक हीनता का बोध पैदा कर रहा है, बल्कि अंग्रेजी बोलना और जानना एक विभाजन रेखा बन गया है। इसलिए अब समय आ गया है कि अंग्रेजी बनाम हिंदी की बहस को भारतीय भाषाओं की निरीहता के रूप में अवलोकित किया जाए। यदि ऐसा कालांतर में होता है तो इसके न्यायिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व शैक्षिक पहलुओं पर गंभीरता से विचार कर भाषाई समस्या का तार्किक व व्यावहारिक सामाधान निकालना संभव होगा।

इसमें कोई दो राय नहीं कि वर्तमान भूमंडलीकृत उदारवादी व आधुनिक तकनीक आधारित वैश्विक फलक पर अंग्रेजी का अपना महत्त्व है। लेकिन इससे यह आवश्यक नहीं हो जाता कि न्याय, शासन-प्रशासन और उद्योग व व्यापार के रोजमर्रा के काम उस भाषा में हों, जिसे देश की अनठानवे फीसद



जनसंख्या जानती ही नहीं। जिस भाषा में आम आदमी सरकार और व्यवस्था से बातचीत ही नहीं कर सके, वहां लोकहितकारी शासन कैसे कहलाएगा? जिस बहस एवं फैसले को वादी-प्रतिवादी समझ ही नहीं सकें, उसे न्याय कहें या अन्याय! मुट्टीभर लोग जिस न्याय प्रक्रिया और उसके परिणाम से निकले निष्कर्ष को समझते हों, यह लोकतंत्र की भावना के विरुद्ध सीधे-सीधे साजिश है। इसका एक उदाहरण याद आता है, जब महाराष्ट्र के जैतपुर में स्थानीय लोग परमाणु विद्युत परियोजना का विरोध कर रहे थे, तो केंद्र सरकार ने परियोजना की पारदर्शिता के लिए अंग्रेजी में बारह सौ पृष्ठों की जानकारी उपलब्ध कराई, जबकि आंदोलनकारी मराठी, कोंकणी और हिंदी ही जानते थे। अब इसे साजिश नहीं तो क्या कहा जाना चाहिए?

देश की सभी निचली अदालतों में संपूर्ण कामकाज हिंदी व अन्य भारतीय भाषाओं में होता है, किंत उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय में यहीं काम केवल अंग्रेजी में होता है। यहां तक कि जो न्यायाधीश हिंदी व अन्य भारतीय भाषाएं जानते हैं, वे भी अपीलीय मामलों की सुनवाई में दस्तावेजों का अंग्रेजी अनुवाद कराते हैं। यह देश और संविधान की विडंबना ही है कि अनुच्छेद-19, 343, 346, 347, 350 और 351 में कहीं भी अंग्रेजी की बाध्यता का जिक्र नहीं है। अनुच्छेद-19 में भारत के सभी नागरिकों को 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' अपनी भाषा में व्यक्त करने का मुल अधिकार दिया गया है। यह अभिव्यक्ति संविधान की आठवीं अनुसूचि में शामिल किसी भी भारतीय भाषा में हो सकती है। अलबत्ता संविधान द्वारा प्राप्त यह बुनियादी अधिकार उच्च और सर्वोच्च न्यायालय की देहरी पर जाकर ठिठक जाता है। यहां अपीलें और यचिकाएं अंग्रेजी में ही विचार के लिए स्वीकार की जाती हैं। किसी

भी मुकदमे के दो बिंदु अहम होते हैं। एक, प्रथम सूचना प्रतिवेदन और दूसरा याची, अभियुक्त एवं साक्षी के बयान। प्राथमिकी स्थानीय भाषा में लिखी जाती है और फरियादी, आरोपी व गवाह भी अपने बयान अपनी-अपनी भाषा में देते हैं। कभी-कभी इनके बयानों के अनुवाद अर्थ का अनर्थ भी कर देते हैं। ऐसे में संविधान का प्रजातांत्रिक न्यायवादी आग्रह उच्च न्यायालयों की देहरी पर ही खारिज कर दिया जाता है।

दुनिया में जितने भी देश महाशक्ति के दर्जे में आते हैं, उनकी अदालतों में मातृभाषा चलती है। युरोपीय देशों में जैसे-जैसे शिक्षा व

संपन्नता बढी. वैसे-वैसे राष्टीय स्वाभिमान प्रखर होता चला गया। फ्रांस ने 1539 में लैटिन को अपनी अदालतों से बेदखल किया। जर्मनी ने अठारहवीं सदी में लैटिन से पिंड छुड़ा लिया। इंग्लैंड की अदालतों में एक समय जर्मनी और फ्रांसीसी भाषाओं का ही बोलबाला था। यहां अंग्रेजी बोलने पर हजारों पाउंड का जुर्माना भी लगा दिया जाता था, लेकिन 1362 में जर्मन एवं फ्रांसीसी को खत्म कर अंग्रेजी को इंग्लैंड की अदालतों में आधिकारिक भाषा बना दिया गया। रूस, चीन, जापान, वियतनाम और क्यूबा में भी मातभाषाओं का प्रयोग होता है। लेकिन भारत और भारतीय अदालतें कोई सबक या प्रेरणा लिए बिना अंग्रेजी को स्वंतत्रता के सत्तर साल बाद भी ढोती चली आ रही हैं। अदालतों को अब इस भाषायी रंगभेद की दासता से मुक्त होने की जरूरत है।

दायित्व का दामन

मोनिका अग्रवाल

जन्म से मृत्यु तक प्रयोगधर्मा और संघर्षशील जिंदगी! समय के झंझावातों में आगे, उतार-चढ़ाव के लहरों पर झुमती, किसी बाज की तरह पंख फैलाए... आकाश की ऊंचाइयों को छती-सी, मंजिल की तलाश में जूझती जिंदगी! और इसको निर्वहन करते हुए मनुष्य हर पड़ाव पर उत्तरदायित्व निभाता चला है! इसी से मानव सभ्यता आगे बढ़ी है। एक ही व्यक्ति अपने जीवन में अनेक प्रकार के उत्तरदायित्व को निभाता चलता है। कभी पत्र या पत्री, पिता या माता, पित या पत्नी, भ्राता और भागिनी, नागरिक या फिर कभी कर्मचारी आदि। उत्तरदायित्व थोपा नहीं जा सकता। जो व्यक्ति उत्तरदायित्व को स्वीकार कर लेता है, वह सिक्रय होकर होकर खुद ही निर्धारित लक्ष्य की ओर बढ जाता है। फिर कठिनाइयां भी आएं तो वह घबराता नहीं। ऐसा जब हो जाए तब हम कह सकते हैं कि यही ध्येय की पराकाष्ठा है। ऐसे ही लोगों के लिए राष्ट्रकवि दिनकर ने लिखा है-'जहां कहीं है शांति जगत में, जहां कहीं उजाला/ वहां खड़ा है, कोई अंतिम मोल चुकाने वाला'।

हमारे आसपास, हर पल, हर जगह, ऐसी घटनाएं

होती रहती हैं जो हमसे कुछ विशिष्ट भूमिका की मांग करती हैं। ऐसे लोग, जिनमें अंतर्चेतना की धारा अनवरत प्रवाहित होती है, वे निराशापूर्ण बातों पर ध्यान नहीं देते हैं। उन्हें तो बस आगे बढ़ कर कुछ नया करना होता है। कुछ नए उत्तरदायित्व के साथ एक नई दिशा तय करनी होती है। कल किसने क्या कहा, कल क्या हुआ, इस पर सोचने का समय कहां होता है उनके पास? कहा जाता है कि 'जिम्मेदारी

किसकी? जो समझे उसकी!' और 'जो बोले सो कुंडी खोले'! छोटी-सी लगने वाली बातें बड़ी महत्त्वपूर्ण होती हैं। अनेक छोटी-छोटी बातों को नजरअंदाज करने का नतीजा कभी-कभी अनेक अन्य प्रकार के अपराध में और कभी–कभी तो जीवन और सभ्यता के अंत के रूप में भी होता है। 'सब चलता है... मुझे क्या फर्क पड़ता है...!' या 'मेरे

चलती रहेगी...', 'मैंने सबका ठेका ले रखा है क्या?', 'अरे चल यार... कोई न कोई तो देख ही लेगा ' या फिर 'अब उनको क्या करना.. ' आदि। ऐसे कई जुमले हैं जो हमें प्रतिदिन अपने आसपास सुनाई पड़ जाते हैं। ये जुमले अनायास

ही कही गई बातें नहीं. बल्कि किसी व्यक्ति के

पहले भी संस्था चल रही थी. मेरे बाद में भी संस्था

संपूर्ण व्यक्तित्व का आईना भी होती हैं। फिर दफ्तरों में तो मजाक के तौर पर 'बने रहो पगला... काम करे अगला', 'मत लो टेंशन, नहीं तो फैमिली पाएगी पेंशन', 'काम से डरो नहीं, काम को कभी करो नहीं 'या 'काम करो या न करो, काम की फिक्र जरूर करो' जैसी बातें आपस की हल्की बातचीत में सुनने को मिल जाती हैं।

दरअसल, ऐसे जुमलों ने सत्यानाश कर दिया उत्तरदायित्व की भावना का दुनिया मेरे आगे और हम कई सालों में भी वह नहीं कर पाए जो आबादी,

> क्षेत्रफल और संसाधन के मामले में हमसे सौ गुना कम में भी नहीं टिकने वाले कई देशों ने कुछ ही वर्षों में कर दिया। हम ऐसी तमाम बातों की ओर ध्यान नहीं देते जो हमारे दैनिक जीवन में समस्याएं पैदा करती हैं। बिजली की कमी, शुद्ध पेयजल की समस्या, गंदगी के कारण बीमारियों के खतरे. बेतरतीब ट्रैफिक के कारण आवागमन में कठिनाई आदि। हमारा यह अनुभव है कि बिजली, पानी, सफाई, अनुशासन जैसी बुनियादी सुविधाओं के मामले में भी हमारे व्यवहार आमतौर पर उत्तरदायित्व से भरे हुए नहीं होते। कहीं नल खुला है तो हम आगे बढ़ कर उसे बंद करने की जहमत नहीं उठाते। कहीं

निरर्थक बल्ब और पंखे चालू हैं, हम उन्हें बंद करने की पहलकदमी नहीं करते। कहीं न कहीं किसी फिजूलखर्ची की कीमत हमारे घरों में हमारे अपने ही भोगने के लिए बाध्य होते हैं।

उत्तरदायित्व की अनुभूति हमें स्वतः स्फूर्त चेतना से प्रेरित करती है। कितना अच्छा हो अगर हम अपनी सीट से हटते वक्त अपने कंप्यूटर के मॉनिटर को ऑफ या बंद कर दें, अपनी सीट के ऊपर का पंखा बंद कर दें, कहीं कोई नल बेकार चलता दिखाई दे तो हाथ बढ़ा कर उसे बंद कर दें, अगर वाश बेसिन में कोई व्यक्ति पान-सुपारी मुंह से उगलता दिखाई दे तो उसे टोक दें और रोकें, हम सड़कों पर अपनी गाड़ी को जहां-तहां खड़ी नहीं करें। ये सब सोचने की बातें हैं और इस तरह से सोचना भी उत्तरदायित्व की भावना से ही विकसित होता है। उत्तरदायित्व अगर दूसरों के प्रति नहीं तो अपने परिवार, समाज, संस्थान, देश, मानवता, प्रकृति के अंश के रूप में अपने प्रति। हम चाहें तो अपने भीतर आसपास के लोगों को इस तरह के उत्तरदायित्वों के प्रति जागरूक कर सकते हैं। अन्यथा यथास्थितिवाद का शिकार होकर मवाद भरे घाव की तरह बजबजाते हुए भविष्य के रास्ते पर सुप्त चेतना, निश्चेष्ट, निस्तेज, संज्ञाशुन्य व्यक्ति की तरह बढ़ना पड़ता है। सोचना हमें है कि हम कौन-सा विकल्प चनें!

आतंक पर नकेल

श-ए-मोहम्मद ने पुलवामा में जिस कायराना आत्मघाती हमले को अंजाम दिया, वह घोर अमानवीय और निंदनीय है। इस आतंकी हमले के बाद समूचे देश में पाकिस्तान के खिलाफ गुस्से की आग भड़क उठी है। शहर से सुदूर गांव और स्कूल-कॉलेज तथा विश्वविद्यालय तक पाकिस्तान के खिलाफ विरोध प्रदर्शन और नारेबाजी का दौर जारी है। पाकिस्तान की इस कायराना हरकत के बाद भारत सरकार ने विश्व बिरादरी के सामने उसे आतंकी देश घोषित करने की मुहिम तेज कर दी। भारत सरकार ने पाकिस्तान के खिलाफ कार्रवाई करते हुए उसस सर्वाधिक तरजीही राष्ट्र का दर्जा छीन लिया। इसके साथ ही पाकिस्तान से आयातित वस्तुओं पर सीमा शुल्क 200 फीसद तक बढ़ा दिया है।

पाकिस्तान की आतंकी हरकतों से भारत ही नहीं बल्कि उसके पड़ोसी अफगानिस्तान और ईरान भी परेशान हैं। पुलवामा में फिदायीन हमले से ठीक एक दिन पहले 13 फरवरी को ईरान की सेना पर हुए आतंकी हमले में उसके 27 कमांडो शहीद हो गए थे। ईरान ने इस हमले का जिम्मेदार पाकिस्तान को माना है। ईरान के मेजर जनरल मोहम्मद जाफरी ने जिहादी समृह जैश अल अदल को इस घटना के लिए जिम्मेदार ठहराया है। यह बात दुनिया को पता है कि जैश-अल-अदल को पाकिस्तानी सेना और सरकार का संरक्षण प्राप्त है। यही नहीं, ईरान ने पाकिस्तान को चेताते हुए सीधे शब्दों में कहा है कि वह आतंकियों के खिलाफ कार्रवाई करे वरना ईरान की सेना उनके खिलाफ खुद सैन्य कदम उठाने को तत्पर एवं सक्षम है।

जैश-ए-मोहम्मद के सरगना मसूद अजहर को वैश्विक आतंकी घोषित करने के भारत के प्रयास को

चीन हमेशा निष्फल बना देता है। चीन 'शत्रु का शत्रु मित्र' वाली कूटनीति पर काम कर रहा है लेकिन उसे समझना चाहिए कि आतंकी का कोई सगा नहीं होता है। जिस पाकिस्तान ने आतंकवाद को आश्रय दे रखा है वह खुद पेशावर में स्कूली बच्चों पर हुए आतंकी हमले के बाद खून के आंसू रोया था। चीन अगर इस भ्रम में है कि आतंकवाद उसका कुछ नहीं बिगाड़ पाएगा तो यह उसके लिए खतरनाक है। पुलवामा आतंकी हमला और ईरान की सेना पर हुए आतंकी हमले के बाद दुनिया के सभी देशों को आतंकवाद और आतंकवाद को आश्रय देने वाले देशों के

जवानों के बलिदान की कीमत अलग-अलग नहीं हो सकती। इस मामले में पुराने नियमों को समाप्त कर नए प्रावधान किए जाने चाहिए।

 मंगलेश सोनी, मनावर, धार, मध्यप्रदेश इस पर ध्यान

पुलवामा में शहीद हुए सैनिकों के परिवार के लिए केंद्र और राज्य सरकारों ने सहायता राशि की घोषणा की है। निश्चित ही इससे इन परिवारों को आर्थिक संबल मिलेगा। लेकिन इस ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि उनके परिवार वालों को सहायता राशि या

मुआवजे की रकम लेने के लिए

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है: ए-८, सेक्टर-7, नोएडा २०१३०१, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com

खिलाफ एकजुट होकर लड़ने की आवश्यकता है। • कुंदन कुमार, बीएचयू, वाराणसी

शहीद का दर्जा

सीआरपीएफ, बीएसएफ या फिर दूसरे अर्धसैनिक बल का कोई जवान अगर किसी आतंकी हमले में वीरगति को प्राप्त होता है तो उसे सेना के जवान की तरह शहीद का दर्जा नहीं दिया जाता। इतना ही नहीं, सेना के शहीद जवान के परिवार वालों को मिलने वाली सुविधाएं और मुआवजे जैसे लाभ भी अर्धसैनिक बलों के जवान ों के परिवार वालों को नहीं मिलते। सरकार को इस मामले में ध्यान देना चाहिए क्योंकि जवानों की शहादत की तुलना नहीं की जा सकती। सेना और अर्ध सैनिक बलों के

ज्यादा भटकना न पड़े। पूर्व में ऐसे परिजनों के इस मामले में कटु अनुभव सामने आए हैं और हम सब अपने यहां

के प्रशासनिक तंत्र की गति को जानते ही हैं। • अंकुर, चंडीगढ़

मौतों के दोषी

दिल्ली के सत्रह लोगों की जान लेने वाले करोलबाग अग्निकांड से साफ है कि हम फिर उसी मोड़ पर खड़े हैं जिस पर उपहार सिनेमा अग्निकांड के समय थे। इतने वर्षों बाद तारीखें तो बदलीं लेकिन व्यवस्था वही है। इतनी बड़ी लापरवाही कैसे बरती जा सकती है; इन मौतों का जिम्मेदार कौन है? क्या निगम आंख मूंदकर बैठा हुआ था? क्या पुलिस के पास इसकी सूचना नहीं थी कि यह छह मंजिला होटल अवैध रूप से चल रहा था? दरअसल, हर तरफ भ्रष्टाचार का जाल फैला हुआ है। किसी ने पैसे दिए नहीं कि उससे पहले अवैध कार्य शुरू हो जाते हैं। अब भी मौका है, जितने भी अवैध होटल, कारखाने चल रहे हैं उन्हें बंद किया जाए। हमें इस दर्दनाक घटना से सीख लेनी चाहिए। निगम और प्रशासन को अब नींद से उठ जाना चाहिए। निर्दोष लोगों को न्याय जरूर मिलना चाहिए।

• आशीष, राम लाल आनंद कॉलेज, दिल्ली

मयोदा के साथ

सोलहवीं लोकसभा की अंतिम बैठक हाल ही में संपन्न हुई। वैसे इस कालखंड में देशहित में कई शानदार कार्य हुए हैं पर संसदीय सत्रों में बहस व चर्चा का जो स्तर सामने आया है, वह बहुत निराश करने वाला है। संसद वार्ताओं का मंदिर है, लेकिन वहां धीरे-धीरे चर्चाएं कम, शोरशराबा और नारेबाजी ज्यादा होने लगी हैं। लोकतंत्र में प्रतिद्वंद्विता अवश्य होती है मगर राजनीति की जो शैली पिछले दिनों विकसित हुई है उससे अवसाद, नफरत, घृणा व वैमनस्य की बू आने लगी है। संसद में मर्यादा का, शब्दों का, रिश्तों का, नैतिकता का जो पालन होना चाहिए था, उसका निरंतर ह्रास हो रहा है। इसके लिए सत्ता पक्ष और विपक्ष दोनों ही जिम्मेदार हैं। जनता तो अपने प्रतिनिधियों को स्वस्थ चर्चा करते हुए देखना चाहती है।

कम से कम संसद में अच्छी व सार्थक बहसें हों, जो भी कमियां इस बार रह गई हैं. उन्हें सत्रहवीं लोकसभा के कार्यकाल में दूर किया जाना चाहिए। लोकतंत्र में बहुमत का शासन और अल्पमत का सम्मान होना चाहिए लेकिन हमारे यहां विपक्ष की भूमिका को ही समाप्त करने की विचारधारा सक्रिय है। संसद में जो जीवंतता होनी चाहिए, उसे हर हाल में अक्षण्ण रखना होगा। वास्तव में यही हमारे लोकतंत्र की खूबसूरती और विशेषता है।

• सत्यप्रकाश आर्य, हमीरपुर, उत्तर प्रदेश